झरने

हुश्न तवस्सुम निहाँ

झरने

कुछ ही फर्लांग पर चौड़ा-सा, कई बीघे तक फैला हुआ किसी दैत्य के समान मुँह फैलाए सा खड़ा हुआ एक बँगला। प्रत्येक संशित मन में एक कुतूहल,एक चेतना सा

जगाता हुआ। मोहल्ले के लगभग हर व्यक्ति में उसे ले कर थोड़ी बहुत जिज्ञासा अवश्य रमी है। आखिर इस बँगले की वास्तविकता क्या है?इसके भीतर का सच क्या है? इस भव्य इमारत की सुंदरता के सभी कायल हैं। कतु क्या है कि पिछले तीन साल के नासूरी-खालीपन ने इसकी खूबसूरती को इस कदर खोखला और भयावह बना डाला है कि अब लोग उसमें कुछ दिन पूर्व आ कर बसे फर्द से भी ताल्लुक बनाने का साहस नहीं कर पाते।

चावला परिवार के जाने के बाद से ये ऐसा अकेला हुआ कि लोग इसे भूत बँगले तक की संज्ञा देने लगे थे। इसे खरीदा किसने? सभी चकित हैं। इसकेएकांतमय वातावरण ने इसे अत्यंत भयावह बना दिया है। यहाँ तक कि सवेरे काम पर जाते हुए। 'ये अक्सर हम सबको 'अपशकुन' सा प्रतीत होता है। सुबह... दोपहर... शाम... हर वक्त... शांत ही... शांत... । मानो शांति चेतना का कोई 'अग्रदूत' अथवा शांति का विशाल पिरामिड।

इसमें एक काया भी प्रायः अपनी उपस्थिति का आभास कराती रहती है यदा-कदा। ऐसी अनुभूति सदैव रात में ही होती है।

तब... जब मैं अपने घर की बगैर रेलिंगवाली छत पे टहल रहा होता हूँ। उस वक्त सामने की इस इमारत की ऊपरी मंजिल पर टिके कमरे की खिड़की से छन कर झीनी सी रोशनी आती रहती है। और साथ-साथ गालिबन तीस-पैंतीस साल की परछाईं भी छन कर आती है। बेचैनी की स्थिति में... चहलकदमी की दशा... । ऐसा ही प्रतीत होता है। और कभी-कभी तो मानो... आकाश ढोता हो... । किसी रोज मैं यूँ ही हस्ब-ए-मामूल टहल रहा होता हूँ कि, तभी वह भक से खिड़की खोलता है।

मेरी आशा के बिल्कुल विपरीत। मेरी स्थिति अत्यन्त विषम। असहज हो जाता हूँ। मानो चोरी करते हुए पकड़ा गया होऊँ। कहीं वह पूछ ना बैठे'क्या तलाशते रहते हो मेरे बँगले के इर्द-गिर्द। और क्यूँ... ?' मैं सँभलता हूँ। खिड़की के बाहर प्रकाश का बड़ा सा टुकड़ा गिर पड़ता है। उससे बचने के लिए उधर मुँह फिराता हूँ। संभवत वह कुछ कहे। किंतु नहीं । वह खामोश है। मुझे सोंचता सा। मानो चुप्पियों की माँद से निकल कर आया हो, वह मौन है। अस्तु, मैं भी मौन, यहाँ से वहाँ तक चुप्पियों का ही बोलबाला है। पर मन ही मन, भीतर ही भीतर हम कितने विचलित है। मानो, हम शब्दरहित संवाद बाँट रहे हों। जानता हूँ कि हम किस स्थिति से गुजर रहे हैं। एक क्रय-विक्रय के विषय-संवेग से। मैं भी उसे ताड़ता सा। अचानक मैं चौंक उठता हूँ। उसने आवाज के साथ पट-सटा दिए हैं। पटों की आवाज में अजब सा कुछ छुपा है। शायद उसकी

बेचैनी, लोहित-स्मृतियाँ या उथले-पुथले इस संसार से तीव्र विमुखता। कमरे की रोशनी गुल। नाइट बल्ब तक नहीं। शायद वह सो गया। या मात्रा सोने का उपक्रम... । सोते रहने की इच्छा।... मैं चुप लफ्जों में शुभरात्रि कह कर चला आता हूँ। एक दिन... दो दिन... तीन दिन... और अब तो रोज का मामूल। मैं व्यर्थ ही उसकी चिंता में दुबला होता रहता हूँ। और मेरी निर्थकता की हद ये कि बिलानागा उसकी जासूसी करना मेरी आदत सी बन गई है।

उसके ऑफिस या कारखाने का समय कभी बदलता नहीं। वह बारहों मास एक ही समय पर निकलता है। हाँ, रात के समय का वह पाबंद नहीं। बाकी दिन भर उसके बँगले के सामने की जगह खिलंदड़े बच्चे आबाद करते हैं। सामने की खिड़कियों के शीशे प्रायः उनकी बॉल का शिकार बनते हैं। पर वह मोहल्ले में आ कर कभी पूछ-गछ नहीं करता। अगले दिन बड़ी खामोशी से उनका शीशा बदल किया जाता है।... बच्चे निश्चिंत हैं।

बँगले में वह अकेला है, ये तय है। मगर क्यूँ... ? इस क्यूँ का जवाब चुप्पियाँ साधे हँस देता है। और... मैं व्यंग्य सा ठगा रह जाता हूँ। मानो,मन पूछता हो 'आखिर तुझे इस रहस्य धारी की इतनी चिंता क्यूँ हैं?

हाँ... सच... किंतु नहीं... मैं उसकी चिंता से मुक्त नहीं हो सकता। बिल्कुल नहीं। जाने क्यूँ... वह असीम है... उसकी व्यापकता मुझ पर तनी रहती है। और मैं यूँ ही... फिक्र मंद सा... । वैसे उसे ले कर मुहल्ले की महिलाएँ भी कम चिन्तत नहीं।

इनके बीच वह काफी चर्चित है। वे दबी जुबान में अपने पतियों से जिक्र करती हैं 'क्या पड़ोस के बँगले में कोई स्त्री नहीं?'

सारे पति चंट हैं। चुपके से मुस्काते हैं। ये औरतें भी ना... कितनी खुराफाती होती हैं। कितनी उत्सुक हैं इस बँगले में प्रवेश पाने के लिए... । नेहा भी भूले-बिसरे चर्चा कर बैठती है

'ये बँगला तो बड़ा मायावी लगता है। कभी चूँ की आवाज भी नहीं सुनाई दी इधर से... ?'

'अरे भाई, बड़े लोगों की बड़ी बातें... ' और मन ही मन कहता हूँ - 'इसकी खलिश तो मुझे भी है... '

हालाँकि एक साल शर्मा जी ने साहस किया भी था 'यार... , चलो, इस अजनबी को कम्पनी देते हैं... ' हम सब में जरा उत्साह जागा, 'हाँ... हाँ... क्यूँ नहीं... ।'

फिर कुछ नहीं। सब ने शर्मा जी को ही अगवा दिया। शर्मा जी सिटपिटाएँ... ।

फिर आखिर टाल ही गए। हाँ, हफ्ता-दस दिन पर उन्नीस-बीस बरस के आस-पास के लड़के उस बँगले की साफ-सफाई करने अलबत आते रहते हैं। किंतु वे भी गूंगे-बहरे बन के ही आते हैं।

और कुछ तो नहीं, मगर दीपावली उस बँगले में अवश्य मनाई जाती है। वो भी शानदार। उस दिन इस भव्य इमारत की शान ही अलग होती है। घर कुमकुमों से बिंध सा जाता है। सारी रात बँगले के रोम-रोम से लाल, हरी, पीली रोशनियों का सैलाब बहता रहता है। बँगला ... किसी दुल्हन की मानद, कतु उस फर्द की तरह उतनी ही सौम्य... उतनी ही शांत... । वहीं वो शख्स कुछ अलग ही कैफियत रखता है। ऊपर की बालकनी में बड़ा खामोश सा बैठा रहता है। जाने कहाँ खोया-खोया सा। सामने लगे कैनवास में कभी रंग भरता है तो कभी एक तरफ बैठ के सिगार के लंबे-लंबे कश लेता है। बेचैनी रोम-रोम से टपकती है। मैं एक दीर्घ-श्वांस ले के रह जाता हूँ... ।

'उफ... !'

कित्ता तन्हा और उदास... उदास और खामोश, खामोश और बेनियाज ... खुद से ही खफा-खफा। मानो किसी अंधे चक्रवात के अंधड़ ने उसे पामाल कर डाला हो। वो... चुप-चुप... , ठहरा... ठहरा... ख्वार-ख्वार... ।

एक दिन पोस्ट मैन ने पूछा था -

'मास्टर साहब... , यहाँ कोई 'स्नेहा भवन है' बताइये तो ... ?'

मैं देर तक सिर खुजाता रहा... ये क्या बला है... पहले तो कभी नहीं सुना... । तभी मेरे बेटे का ध्यान कॉमिक्स से हटता है -

मुझे अचकचाता देख टप से बोल पड़ा - 'अंकल, वो सामनेवाला बँगला है ना!'

मैं ठगा सा खड़ा रह जाता हूँ... , कमाल है, जब से वह यहाँ आया है, यानि शिफ्ट हुआ है मैं उसी की फिक्र में तो रहता हूँ फिर भी... ।

उड़ती-उड़ती सुना था, पहले इसमें कोई चावला परिवार रहता था, फिर सब कहीं और शिफ्ट हो गए। सालों खाली पड़ा रहा, अभी कुछ दिनों से ये आबाद रहने लगा है।

खैर, मैं सत्यता सिद्धि की गरज से एक दिन यूँ ही बंटी को बुलाने चला गया। कुतुहलवश बँगले पर नजर दौड़ाई। सचमुच एक तरफ मेन गेट से थोड़ा ऊपर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा गया था 'स्नेहा भवन'। और मेरे जेहन में कीड़े काटने लगे, जिज्ञासाएँ प्रश्न बन कर उभरने लगीं।... 'हू इज स्नेहा... हू... वाज स्नेहा... ? पर व्यर्थ... ।

एक रोज मैं सुबह-सवेरे हवा खोरी के लिए निकला था। अटनेसपने में, उसके बँगले के सामने से होता हुआ गुजरा। वापसी में उसके बँगले की कुछ दूरी पर एक छोटी सी डायरी हाथ लग गई। निःस्संदेह, उसी की होगी। गलती से गिर गई शायद। मैंने सोचा। मैं जल्दी से डायरी पॉकेट में रख कर चलता बना। स्कूल गया। मगर स्कूल में मन नहीं लगा। डायरी सिर पे नाचती रही। शाम को वापस लौटा। उल्टे-सीधे चाय ली और तखलिया में चला गया। प्रथम पृण्ठ पर ही ऊपर दाईं ओर बड़े ही सुंदर सज्जित अक्षरों में लिखा गया था 'झरने... ' लिखनेवाले ने शायद जीवन को झरने के तौर पर परिभाषित किया है। मैंने सोचा।

डायरी में लिखी सिर्फ खास बातों का ही जिक्र करूँगा वर्ना बात लंबी खिंच जाएगी। खैर, पन्ना पलटा एक भूमिका सी लिखी गई थी '... जल प्रपात से इस जीवन पर क्षण भर भी स्थिर रह पाना कितना कठिन है, कितना असंभव है। क्षणों के इन तेज-तेज आवेगों के साथ हम कहाँ-कहाँ, कितना-कितना, कैसे-कैसे दरक जाते हैं। सूर्यास्त तक हम लगते हैं किनारे। या... हमारे किनारे लगने तक शामें उतर आती हैं। अँधेरे के तिलिस्म में एहसास उलझते रहते हैं। रग-रग में चापें उग आती हैं। आँखें पत्थर ढोती हैं। और हम... कितने बेतरतीब हो कर रह जाते हैं... बार-बार... ।'

भई, अपना-अपना लाइफ-स्टाइल होता है। कुछ लोगों को ही ये हुनर आता होगा कि अपनी दर्दामेज तल्खियों को भी आभारहित ना होने दें। वर्ना हम जैसे आम लोग तो अंदर-बाहर के दायित्वों में ऐसा उलझते हैं कि सुख-दुख में कोई सूक्ष्म सा भी अंतर नहीं तलाश पाते। ना सुख जीने की फुर्सत, ना दुख भोगने का मौका। एक निरीहता की अवस्था भोगते रहते हैं हम।

और पन्ने पलटने पर...

फैक्ट्री के काम से पूरे आठ महीने के टूर पर निकला हूँ। मन बार-बार बुझता-बुझता सा है। रेल की गति तीव्र होती जा रही है। जाने किस पल बिल्कुल अलग कर दे मुझे

मेरी पनाह से... । मैं बढ़ रहा हूँ... शैनः-शैनः... क्षितिज की ओर... स्नेहा के आँसुओं ने भिगो डाला है। 'विदा' शब्द के साथ ही कितना अजनबी होने लगता है एक-एक शब्द, एक-एक एहसास। उससे अलग होना, किसी अभिशाप से कम नहीं। शीघ्र ही मिलूँगा उससे'

कितने गुलरू होते हैं जीवन के वे क्षण, जिन दिनों मौसम ठहरे रहते हैं हमारे लिए, खासकर तब, जब हम प्यार में होते हैं। सौ रंग के फूल खिलते हैं। हजार रंगों के दीप जलते हैं। और कोई चुपके से पीछे से आ के हाथ थाम लेता है कहते हुए वी आर इन लव... '

जाने क्या बात है, अभी तक स्नेहा की कुछ खबर नहीं। ना फोन कॉल, ना एस.एम.एस. ना मेल। सेल भी ऑफ करके बैठी है पगली... । प्लीज... बी नियर टू मी... माई लव... ।'

कफन में लिपटे ये दिन कितना सीलते हैं**...** लगता है अब सुबह नहीं**...** क्यूँ लगा ऐसा**... ?'**

निश्चय ही ये डायरी उसी की थी। 'स्नेहा' शब्द से समझ चुका था। खैर, इसी तरह से और पन्ने पलटे मैंने हर वर्क पर उसकी विवशता, हत्पीड़ा,संताप, संलाप दर्ज थी। हर शब्द से मर्मवादी स्पर्श मुखर हो रहे थे। पन्ने-पन्ने पलटता जाता हूँ।

आज... वापसी की शुभ घड़ी है। काश! भाग पाता... मेघों के समान तेज... तेज... पहुँचते ही लिपट जाऊँगा स्नेहा से और खूब सारी शिकायतें करूँगा...

- और आगे **-**

धुआँ सा भरा है आँखों में... जहर सा घुलने लगा है बदन में।... यहाँ से गया था तो उसकी मंगल कामनाओं की एक फौज साथ थी परंतु आज... कल सारे स्पर्श अंगारों में तब्दील होते जा रहे हैं। मैं... कितना तन्हा लौटा हूँ... '

आठ महीने आठ जनम की तरह बीते। अजब सी छटपटाहटों के बीच। अब उकताया हुआ हूँ अपने आपसे ही।

आज सारे स्पर्शों से चुक गया। एक मारक अनुभूति सिक्त हो रही है भीतर ... स्नेहा अपने पति के घर है, यहीं लखनऊ में ही, अमीना बाद में... ये आठ महीने मेरी कब्र खोद गए... ।'

स्नेहा का परिवार मुझे स्वीकार ना सका। कहते हैं, मेरी माँ मुस्लिम थीं। मैं तो सदैव से माताविहीन रहा। जिसके बारे में मैं स्वयं कन्फर्म नहीं,उसे ले कर दूसरों से क्या तर्क करना। हाँ, पापा जीवित होते तो एक बार जिक्र अवश्य करता, क्या सचमुच... ?

पन्ने जल्दी-जल्दी पलटता हूँ। घड़ी देखता हूँ। नौ बज चुके हैं। पत्नी दो बार खाने के लिए बुला गई हैं। जाता हूँ। जल्दी-जल्दी खाता हूँ।... उल्टे-सीधे भागता हुआ बैडरूम में आ जाता हूँ और डायरी सँभाल लेता हूँ। खोलता हूँ। - आगे -

स्नेहा के विवाह के आठ वर्ष बीत गए। कितनी जल्दी... । वक्त गया किंतु वक्त का वो नासूराना पन नहीं गया। तब से रिस ही रहा हूँ... रिसता ही जा रहा हूँ।

कितना गिरा पड़ा हूँ इस दरम्यान। कितना-कितना टूटा हूँ... और टूट-टूट के कैसे जुड़ता रहा हूँ... शायद इसी लिए गाँठ नुमा बन गया हूँ। कभी-कभी जी चाहता है हाथ बढ़ा के छीन लूँ उसके उजाले और अपने अंधेरों को रोशन कर लूँ... कतु नहीं... नहीं कर सकता... ।'

स्नेहा के पड़ोस में एक बँगला खाली है... सोचता हूँ वहीं शिफ्ट हो जाऊँ... उसके पास न सही, उससे दूर तो नहीं रहूँगा... कोई बेइमानी न होने दूँगा... । ऐसे रहूँगा कि। उसे ही नहीं, किसी को भी मेरे वहाँ होने का आभाष तक ना हो... ।

इतना शांत, कि एक बार शांति भी मुझसे... ईर्ष्या कर बैठे।

आज, बँगले में शिफ्ट हुआ हूँ, किसी शरीर में आत्मा की तरह। वर्ना... ये भी तन्हा था, बेजान था... मेरी तरह... '

काले कपड़ों में लिपटी मन्जिल, उफ कहाँ हूँ मैं... जीवन, किसी दैत्य के द्वारा दिया गया अभिशाप... '

मैंने एक निःश्वास छोड़ा, अपनी-अपनी थिंकिंग है भई, हर व्यक्ति की दृष्टि में जीवन अलग-अलग परिभाषाएँ ले कर उजागर होता रहा है। वर्ना,शेक्शपियर ने तो इसे अर्थात जीवन को किसी मूर्ख द्वारा कही गई एक कहानी तक कह डाला है।'

खैर, मैं आगे बढ़ा

बँगले के सामने खेल रहे बच्चों ने सामने की खिड़की के शीशे तोड़ डाले हैं। मैं डिसमूड नहीं हो सका। कौन जाने, इसे स्नेहा के बच्चे ने तोड़ा हो... । पता नहीं इनमें से किस घर में रह रही होगी स्नेहा, भगवान जाने, कौन होगा उसका पति, कैसा होगा उसका

बच्चा। कतु नहीं... मुझे प्रश्नों में नहीं उलझना चाहिए... मुझे इससे क्या सरोकार... मैं तो... मैं... तो... ।

दीपावली की पावन संध्या, स्वप्न के दायरे में तूफान से उठते हैं।... चारों तरफ... आग ही आग... दीपों की... गर्माहट में जलता सा मैं।... बिल्कुल शैतान के उस बादशाह की तरह जो यक-ब-यक आग के दरिया में फेंक दिया गया था।... बहिश्त से... । किंतु आज के दिन भी मैं कैनवास पर तुम्हें रचता हूँ... इसी दिन तो तुमने मेरे जीवन के पटों पर दस्तक दी थी।

आज हँसूँगा... उस सामनेवाले पर,... जासूस कहीं का... ।

मैं खिसिया गया। और पन्ना पलटा। अब कुछ नहीं। अब से विराम था।

मैंने लंबी साँस खींची, और डायरी सँभाल कर रख दी। मुझे नई चिंता ने घेर लिया। यानि इस पूरे मोहल्ले में किसी की पत्नी का नाम स्नेहा अवश्य है। कैसे पता चले?

मैं फिक्रमंद सा हो चला। खैर, अपना नैतिक कर्तव्य समझते हुए मैं सवेरे ही उसे डायरी वापस करने पहुँचा। वह जाने को तैयार ही था, बाहर ही मिल गया। मुझे देख ठिठका, मैंने साहस करके हाथ जोड़ दिए और उसे एकटक देखता ही रह गया। इतना निकट से आज पहली बार देखा था उसे। वर्ना सदैव से तो धुँधला ही दिखाई देता रहा। बड़ा अद्वितीय व्यक्तित्व का मालिक था वह। बड़ी सुर्दशन छवि पाई थी उसने। नयन-नक्श इतने तराशे हुए कि लफ्जों में बयान करना नामुमकिन।

आँखें खोई-खोई सी, किसी वैचारिक मंत्राणा में उलझी हुई। श्याम वर्ण के उस चेहरे पर काले-घनेरे बालों के छल्ले यूँ बिखरे पड़े थे मानो किसी तेज अंधड़ के वेग से घटाएँ अस्त-व्यस्त हो आई हों। जवाब में उसने भी बड़ी शिष्टता के साथ हाथ जोड़ दिए। मैंने झिझकते हुए डायरी आगे बढ़ा दी -

' य... ये... शायद आपकी है... कल सवेरे... '

उसने लपक कर डायरी ले ली

'ओह... तो आपको मिली थी। थैंक... गॉड' मानो उसकी खोई हुई दौलत मेरे हाथ लग गई थी।

'मैं आपका बहुत आभारी रहूँगा... ' कहते हुए अपनी जेब से एक कार्ड निकाल कर मेरी तरफ बढ़ा दिया।

'कभी जरूरत पड़े तो मुझे अवश्य याद कीजिएगा... '

और मुझसे हाथ मिलाकर अपनी गाड़ी में जा बैठा। अगले ही क्षण थोड़ी धीमी सी आवाज के साथ वो गाड़ी आँखों से ओझल होने लगी। मैं देर तक रास्ता टटोलता रहा। सोचता रहा, ऐसे प्राणी कितने दुर्लभ होते हैं। अजीब है ये व्यक्ति।

जितनी शाईस्ता तबियत बल्कि शख्सियत पाई है उतना ही रिजर्व रहता है। कितनी अभागन होगी वो लड़की जो इस पवित्रा सान्निध्य से वंचित रह गई, उसकी वेदना में भी कितनी पवित्राता, कितनी मनस्विता झलक रही थी। भले ही वह अंदर-अदर मर्माहत हुआ था, पर ऊपर से कितना शांत, व आर्द्र नजर आया था। मुझे हंगरी के प्रणय-गीत रचनेवाले कवि लाजलो जावेर का ख्याल आ गया जो प्रेम में असफलता ना बर्दाश्त कर सका। और गीतों में प्रणय का माधुर्य-विकीर्ण करते शब्दों का स्थान बिखरे सपने, असीम दर्द, और मर्मांतक अभिव्यक्तियों ने ले लिया।

ऐसी विषम परिस्थितियों से ग्रस कर उसने 'ग्लूमी-संडे' शीर्षक से एक विरह गीत रचा था, जिसके बजने पर तूफान सा उठता था और युवक-युवतियाँ खुदकुशी करने लगते थे। मुझे अपने इस पड़ोसी में वही मर्मभेदी गीत रचनेवाले लाजलो का का ही दूसरा रूप नजर आया था। पहली बार मुझे एहसास हुआ था कि किसी की स्नेहिल-संवेदनाओं को छलना कितना बड़ा पाप है। मुझे हाथ में थमे आई-कार्ड का ध्यान और 'नमन पेट्रोलियम' पढ़ते ही मेरी आँखें फैलती चली गईं।... बाप... रे... बाप... ये... ये... तो शहर के जाने-माने व्यवसायियों में से है। मेरे जेहन में प्रश्न ही प्रश्न उछलने लगे। तमाम जिज्ञासाएँ एक साथ ही जागीं। कितना मुश्किल है इस दिव्य विभूति को समझ पाना। मैं घर आते ही पत्नी का सिर खाने लगा। फलाँ साहब की पत्नी का क्या नाम है... कैशियर साहब की पत्नी का क्या नाम है... ।

मिसेज कपूर का क्या नाम है? आदि... आदि... । मेरी इन तहकीकाती कारगुजारियों से वह भड़क उठी 'आखिर मसला क्या है, एक तो हर समय खोए-खोए रहते हो... तिस पर उल्टे-सीधे सवाल। क्या नामों पर शोध करने का इरादा है... ?'

मेरा आप मुझे धसकता सा नजर आने लगा। हफ्तों चली ये प्रक्रिया किंतु परिणाम... , नियर-नथिंग... ।

अपनी आदत के अनुरूप मैं आज भी अपने घर की बॉलकनी पर खड़ा उसके क्रिया-कलापों पर निगाह रखने की कोशिश कर रहा हूँ, मगर कुछ दिखाई नहीं देता।

कमरे में बिल्कुल कालिख सी पुती है सोचता हूँ बड़ा वेकफुल व्यक्ति है, कितना सतर्क रहता है।

तभी खड़ंजा सड़क की तरफ से किसी गाड़ी के आने का स्वर लगता है। थोड़ी ही देर में वो गाड़ी सामने से होती हुई गैरेज में पार्क कर जाती है। गैरेज सेलॉन और ओसारे तक गुलाबी, हल्की रोशनी फैली पड़ी है। गाड़ी का दरवाजा खुला। वह बाहर निकलता है, और मेन गेट की तरफ बढ़ता है। ताड़ और गुलमोहर के भुतहे वृक्ष झूम रहे हैं। कामिनी महक रही है कि तभी वृक्षों के आस-पास से दो साए प्रकट होते हैं। उन सबकी पीठ मेरी तरफ है। मेरे जेहन में गोले से दगने लगते हैं... ख... त... रा... । पर मेरी आवाज गले में ही अटक जाती है। एक दौड़ कर उसका मुँह साध लेता है, वह कुछ समझ पाता या सँभल पाता कि इससे पहले ही दूसरा व्यक्ति उसके पेट में छुरा घोंप देता है। मेरी टांगें काँपने लगती हैं। बेदम सा हो जाता हूँ। दोनों भाग गए। दूसरे ही क्षण मेरे भीतर जाने कहाँ से इतना पौरूष जागता है। मैं भाग कर नीचे आता हूँ। नेहा को जगाता हूँ। बिना कुछ बताए उसे साथ चलने का कह कर बँगले को लक्ष्य करता हूँ, वह भी घबराई सी चल देती है।

कुछ ही देर में हम अपने पड़ोसी के सामने होते हैं। उसके होंठ काँप रहे हैं चेहरे पर दर्द फैला पड़ा है। तभी नेहा चीखते हुए छुरा उसके पेट से खींच कर फेंक देती है। ये सब इतनी जल्दी होता है कि मैं कुछ बोलने की सोच भी नहीं पाता। हैरान सा रह जाता हूँ। ये... ये तुमने क्या किया... पुलिस केस है। पर... वह कब सुनती है, मेरी। रोए जा रही है। आखिर माजरा क्या है... ? उस अजनबी का हाथ धीरे-धीरे उठता है। जैसे कुछ कह रहा हो। शायद... विदा या फिर नेहा से ना रोने की अर्ज। मैं संशित सा।... आश्चर्यचकित।... तभी उसकी गर्दन एक तरफ ढुलक जाती है। ... वह मर गया... । नेहा बेहाल है... । अपने आपसे बेखबर। मैं झिड़कता हूँ... । ये क्या बेवकूफी है... ? तभी वह लज्जित सी खड़ी हो जाती है, मैं धिक्कारता हूँ।

'मैं नहीं जानता था कि तुम... '

मुझे उस डायरी का ख्याल आता है। उसकी जेबें टटोलता हूँ, वो डायरी तो नहीं एक चाबी अवश्य बरामद होती है। जाने क्या सोच मैं चाबी ले कर आगे बढ़ता हूँ। सामने का दरवाजा खोल कर घर में प्रवेश करता हूँ।

बँगले में तमाम कमरे हैं, मगर कोई भी लॉक नहीं है। दूसरे, वे सर्वथा खाली हैं। तभी कुछ याद आता है, और मैं तेजी से ऊपर, हॉल की तरफ जानेवाली सीढ़ियां चढ़ने

लगता हूँ। मेरे पीछे-पीछे नेहा भी चल रही है। मैं सांकल खोल कर हॉल में प्रवेश करता हूँ। मगर वहाँ भी कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं प्राप्त होती है।

तभी आलमारी पर नजर पड़ती है। एक रोल किया हुआ कागज रखा है। उसे खोलता हूँ। एक तस्वीर है। उसी के द्वारा बनाई गई। ये कहने की जरूरत नहीं कि ये तस्वीर नेहा की है। इतने दिनों से वह नेहा को कैनवास पर रचता रहा था जो उसकी 'स्नेहा' थी। नेहा की आँख फिर छलछला आती हैं। भीतर ही भीतर एक सागर उमड़ रहा है, बहने को आतुर ।... हाँ... वह खूब रोना चाहती है। पर... डरती है... मुझसे... ।

फिर भी आखिर आँखों में संवेदनाएँ प्रकट होने लगती है। वह विवश है। कुछ देर बाद हम चले आते हैं। पेंन्टिंग भी साथ लेता आता हूँ। बदनामी के डर से। डायरी तो खैर मिली नहीं। ताली उसी की जेब में पहुँचा देता हूँ। घर आ के पुलिस को फोन लगाता हूँ। नेहा बिस्तर पर करवटें बदल रही है और मैं भी... ।

मगर हमारे रतजगों की वजहें अलहदा हैं। तभी मेरे जेहन में एक विचार कौंधता हैं 'मैं भी फँस सकता हूँ... ' सोच कर ही काँप जाता हूँ। बड़ी देर तक तमाम तरह की उधेड़-बुन में उलझता रहता हूँ। अंततः निश्चय करता हूँ पुलिस को सच-सच बता दूँगा। फिर जो भी हो। और निश्चत हो जाता हूँ। मेरे सामने नाच रहा है उसका उठा हुआ हाथ। कितनी बेबसी थी उसके उस उठे हुए बेजान हाथ में। हाँ, उसकी आँखों में हल्की सी चमक जरूर फूटी थी जो बेशक नेहा की उपस्थिति का प्रभाव था। चलो, अच्छा हुआ इस अंतिम क्षण में उसे अपनी इकलौती और अंतिम छाया के दर्शन तो हो गए। वर्ना... कितना भटकती उसकी आत्मा... । दूसरे लोक में भी कहाँ चैन से रह पाता? और... उफ् कितने निर्मम थे वे हत्यारे, उस शांति दूत को ऐसा शांत किया... ऐसा शांत किया।

तभी दरवाजे पर दस्तक होती है। हम चौंकते हैं। मैं दरवाजा खोलता हूँ।

सामने हवलदार है। मुझे थाने तलब किया गया है। कुछ ही क्षणोपरांत मैं दरोगा के सामने होता हूँ। मैं एक-एक बात सच-सच बता देता हूँ। मगर दबे लफ्जों में उससे ले, दे कर मेरा दखल गुप्त रखने की बात कहता हूँ। उसने मुझसे मेरी सामर्थ्य से अधिक की माँग की है, मगर इज्जत बचाने के लिए कोई भी कीमत चुकानी पड़ेगी।

पचास हजार तो कुछ भी नहीं। वैसे भी एक स्कूल मास्टर के लिए पचास हजार के नुकसान का मतलब है, फुटपाथ पर आने की नौबत। किंतु विवश हूँ। लौट आता हूँ।

सुबह होते ही हम उधर का रुख करते हैं। नेहा का चेहरा देखता हूँ। आँखें बड़ी बोझिल हैं। चेहरा सूजा सा। वह चुप है, 'उसी' की तरह। मैं भी चुप हूँ... नेहा की तरह... । बंटी को भी स्कूल नहीं भेजा उसने। वह लगातार एक तरफ शून्य में देखे जा रही है। मैं भी उधर देखता हूँ... कुछ भी नहीं... पर... नहीं... नेहा को वहाँ बहुत कुछ नजर आता होगा... वहाँ... उस शून्य में वो सालों पहले बीते हुए स्नेहित पलों की नारंगी धूप... हँसते लम्हों के बीच विचरती खुशबुओं से लबरेज वो... मोहक ... मोहक सुबहें ... वो तारों से भरे... आकाश... गुलाबों से सनी धरती... साँवली घटाओं से आच्छादित सुरमई बादल और वो... तन्हा... तन्हा... साथ और फिर उन मुन्तखिब क्षणों के बुझते-बुझते मीजान... ।

खैर, पुलिस अपनी औपचारिकताएं निभा रही है और भीड़ अपना कर्त्तव्य... खुसर-फुसर... । तभी कोई संकेत पा कर मैं चौकता हूँ। दारोगा मुझे बुला रहा है।

पास पहुँचते ही मेरा खून जमने लगता है। उसके हाथ में वही काली डायरी है जिसे मैं कल तलाश ना पाया था। मतलब का पेज खोल कर डायरी मेरे सामने कर देता है। उसे देखने के बाद मैं एक दफा फिर नेहा को कोसता हूँ

'किस जंजाल में फंसा दिया कमबख्त ने**...** '

पढ़ता हूँ

'इधर, मेरे पूर्व से विच्छिन्न जीवन पर मौत के काले बादल मंडराने लगे हैं। लोग किसी की उन्नति देख नहीं पाते। विशेषकर मेरे प्रतिद्वंद्वी। वे मेरी जान के दुश्मन बने बैठे हैं। दो बार जानलेवा हमला भी हो चुका है मुझ पर। ऐसे में विचलित हूँ। कहीं कोई अपना नहीं दिखता। इसीलिए अपनी सारी संपत्ति, अपना सहेजा हुआ ज र्रा-जर्रा अपनी अंतिम छाया स्नेहा उर्फ नेहा व उसके परिवार को सौंपना चाहता हूँ। मेरे बाद वही होंगे मेरी संपत्ति के वारिस । नेहा, पुत्री डॉ. श्याम सुंदर, पत्नी दिनेश कुमार श्रीवास्तव **(**स्कूल मास्टर**)** अमीनाबाद। सारी बातें अपने अंतरंग मित्रा और वकील रितेश सिप्पी को समझा दी हैं। कल तक शायद कागज आ जाएँ... ।

जाने कैसी ऊर्जा उत्पन्न होने लगी है रग-रग में। सारा जिस्म जलने लगता है। मानो हाथों में अंगारे पकड़ रखे हों। हकबकाया सा डायरी वापस कर देता हूँ। अभी खड़ा कुछ सोंच ही रहा था कि दरोगा की आवाज सुनाई देती है 'लाश के वारिस भी आप ही होंगे मास्टर साहब, आपको हमारे साथकोतवाली चलना होगा।

'ठीक है दरोगा साहब' मैं दबी जुबान में कहता हूँ।

लाश सील हो चुकी है। कुछ औपचारिकताओं के बाद लाश पोस्टमार्टम के लिए रवाना कर दी जाती है। मैं भी साथ हूँ। रास्ते भर सोचता रहा हूँ'कितना स्वार्थी हूँ मैं। एक ये था कि निःस्वार्थ हमारे लिए इतना कुछ सहेजता रहा। एक मैं हूँ इसकी संपत्ति से मुझे इनकार नहीं, पर इसकी मृत्यु पर आँसू बहाने से नेहा को रोकता रहा। कैसा घटिया किस्म का व्यक्ति हूँ मैं। अगले दिन लाश मुझे सौंप दी जाती है। दरोगा ने अपनी 'फीस' में पच्चीस हजार और जोड़ दिए हैं। आखिर मैं इतनी बड़ी संपत्ति का मालिक जो बन गया हूँ। मैं खुशी-खुशी मान लेता हूँ। शाम तक बड़ी खामोशी से लाश घर आ जाती है। पड़ोसी हैरान हैं। मैं उनमें प्रचलित कर देता हूँ 'मेरी पत्नी का दूर का रिश्तेदार है। मगर... उन्हें कब विश्वास होता है सभी को संदेह है। मास्टर ने कोई हथकंडा अवश्य अपनाया है।'

खैर, एक-आद लोगों को उसके दाह-संस्कार में शामिल कर लेता हूँ। मुझे गुमान भी ना था कि इस अजनबी की चिता को मैं मुखाग्नि दूँगा, कैसा इत्तेफाक है। नेहा डरी, सहमी और आहत सी खड़ी है। मैं जा कर उसके सिर पे हाथ रख देता हूँ। 'नेहा..., तुम रोने के लिए स्वतंत्र हो, इस महान विभूति पर तुम ही आँसू नहीं बहाओगी तो कौन बहाएगा... जी भर कर रो लो... '

सुनते ही नेहा मेरे कांधे पर सिर रख कर फूट-फूट कर रो पड़ती है। कैसी विडंबना है, किसी की मृत्यु पर शोक व्यक्त करने के लिए भी अनुमति लेनी पड़ जाती है। किंतु... मन ही मन फिदा हो गया हूँ इस मोहक और मधुर प्रेमालाप पर।

सवाल ये कि क्या उसकी जीवित अवस्था में भी ऐसा संभव था? क्या मैं तब भी नेहा से ऐसा ही बर्ताव करता? क्या तब भी इसी सहृदयता से पेश आता... ?